(Quotations)

अनुक्रम

सत्य

जीवन तो अंधकार है, लेकिन जिनके पास सत्य का दीपक है, वे सदा प्रकाश में ही जीते हैं। जिनके भीतर प्रकाश है, उनके लिए बाहर का अंधकार रह ही नहीं जाता। बाहर अंधकार की मात्रा उतनी ही होती है, जितना कि वह भीतर होता है। वस्तुतः बाहर वही अनुभव होता है, जो कि हमारे भीतर उपस्थित होता है। बाट अनुभव भीतर की उपस्थितियों के ही प्रक्षेपण हैं। यह कारण है कि इस एक ही जगत से भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न जगतों में रहने में समर्थ हो जाते हैं। इस एक ही जगत में उतने ही जगत हैं जितने कि व्यक्ति हैं। और किसे किस जगत में रहना है, यह स्वयं उसके सिवाय और किसी पर निर्भर नहीं। हम स्वयं ही उस जगत को बनाते हैं, जिसमें हमें रहना है। हम स्वयं ही अपने स्वर्ग या अपने नर्क हैं।

अंधकार या आलोक जिससे भी जीवन पथ पर साक्षात होता है, उसका उदगम कहीं बाहर नहीं, वरन हमारे भीतर होता है। क्या कभी अपने सोचा है कि सूर्य अंधकार से परिचित नहीं है? उसकी अभी तक अंधकार से भेंट ही नहीं हो सकी है?

जेम्स लावेल ने कहा हैः 'सत्य को हमेशा सूली पर लटकाए जाते देखा और असत्य को हमेशा सिंहासन पाते! मैं कहता हूं कि यह बात तो सत्य है, किंतु आधी सत्य है, क्योंकि सत्य सूली पर लटका हुआ भी सिंहासन पर होता है और असत्य सिंहासन पर बैठकर भी सूली पर ही लटका रहता है।

सत्य विश्वास नहीं है। सब विश्वास अंधे होते हैं और सत्य तो आत्म चक्षु है। वह विश्वास नहीं, विवेक है। और विवेक के जन्म के लिए समस्त विश्वासों की जंजीरें तोड़ देनी होती हैं, क्योंकि जिसे सत्य को जानना है उसे सत्य को मानने का अवकाश ही नहीं है। क्या कोई अंधा अंधा रहकर भी प्रकाश को देखने में समर्थ हो सकता है और क्या कोई तट पर जंजीरों से बंधा हुआ जहाज भी सागर की यात्रा कर सकता है?

सत्य सिद्धांत नहीं, अनुभूति है। इससे शास्त्र में नहीं, स्वयं में ही उसे खोजना है। शब्दों से हुआ उसका ज्ञान तो अक्सर अज्ञान से भी घतक है। क्योंकि अज्ञान में एक पीड़ा है और उसके ऊपर उठने की आकांक्षा है, लेकिन तथाकथित थोथा शास्त्रीय ज्ञान तो उल्टे अहंकार की दृष्टि बन जाता है, अहंकार अज्ञान से भी घतक है वस्तुतः तो ज्ञान का अहंकार, अज्ञान का ही अत्यंत घनीभूत रूप है- इतना घनीभूत कि वह फिर अज्ञान ही प्रतीत नहीं होता है।

सत्य शक्ति है। असत्य अशक्ति इसलिए असत्य को चलने के लिए सत्य के ही पैर उधार लेने होते हैं। सत्य के सहारे के बिना यह एक पल भी जीवित नहीं रह सकता। फिर भी हम ऐसे पागल हैं कि उसका ही सहारा खोजते हैं जो कि स्वयं ही सहारे की खोज में है। क्या भिखारी से भीख मांगने जैसा ही यह उपक्रम नहीं है?

जीवन में दो ही चीजें पाने जैसी हैं। सत्य और प्रेम, लेकिन जो सत्य को पा लेता है, वह अनजाने ही प्रेम में प्रतिष्ठित हो जाता है और जिसका प्रवेश प्रेम के मंदिर में हो जाता है वह पाता है कि वह सत्य के समक्ष खड़ा हुआ है। प्रेम सत्य का प्रकाश और सत्य है प्रेम की यात्रा की पूर्णता। लेकिन यदि सत्य का साधक स्वयं में प्रेम को विकसित होता हुआ न पावे, तो जानना चाहिए कि वह किसी भ्रांत मार्ग पर है और ऐसे ही प्रेम की साधना में ज्ञात हो कि सत्य निकट नहीं आ रहा है तो निश्चित है कि प्रेम के नाम से किसी भांति की मूर्च्छा और मादकता ही सीधी जा रही है। सत्य के पथ पर प्रेम कसौटी है और प्रेम पथ पर सत्य परीक्षा है। क्या आपको ज्ञात है कि हीरा मूलतः कोयला ही है! कोयले में ही हीरा छिपा होता है? ऐसे ही स्वयं हम में ही सत्य भी छिपा हुआ है।

सत्य ही एकमात्र धर्म है। और अधार्मिक वह नहीं है, जो कि तथाकथित धर्मों के विरोध में खड़ा है, क्योंकि अक्सर तो वही सत्य के अधिक निकट होता है। अधार्मिक तो वह है जो कि सत्य के विरोध में खड़ा होता है और तब बहुत से धार्मिक अधार्मिक ही हैं। सत्य स्वयं ही धर्म है, इसीलिए सत्य का कोई भी धर्म नहीं है। सत्य का कोई संप्रदाय नहीं है, नहीं हो सकता है। संप्रदाय तो सब स्वार्थ के हैं। सत्य का कोई संगठन नहीं है क्योंकि सत्य तो स्वयं ही शक्ति और उसे संगठन की कोई आवश्यकता नहीं हो सकती है।

सत्य की कोई शिक्षा नहीं होती है। प्रेम की भी नहीं होती। सिखाया गया प्रेम क्या होगा! सिखाया हुआ सत्य नहीं होता है।

सत्य एक ही है। इसलिए जहां विचार है, वहां सत्य नहीं होगा, क्योंकि विचार अनेक हैं। विचारों को छोड़कर जब चित्त निर्विचार होता है, तभी सत्य की अनुभूति होती है। सत्य साक्षात का द्वार विचार नहीं, निर्विचार समाधि है।

अहिंसा

अहिंसा ऐसे हृदय में वास करती है, जो इतना बड़ा हो कि सारी दुनिया के फूल उसमें समा जावें, लेकिन जिसमें इतनी सी भी जगह न हो कि एक छोटा सा कांटा भी वहां निवास बना सके।

अहिंसा है निरहंकार जीवन। अहंकार में ही सारी हिंसा छिपी है। अहं केंद्रित जीवन ही हिंसक जीवन है। अहं जहां जितना घनीभूत है, वहां न अहं के प्रति उतना ही विरोध ही और शोषण भी होगा। इसलिए मेरी दृष्टि में अहिंसा मूलतः अहंकार के विसर्जन से ही फलित होती है। अहं क्षीण होता है तो प्रेम विकसित होता है। अहं शून्य होता है तो प्रेम पूर्ण हो जाता है।

अहं शोषण है, तो प्रेम सेवा है। और जैसे ही अहं का केंद्र टूटता है तो प्रेम की अपूर्व ऊर्जा का विस्फोट होता है। जैसे पदार्थ के अणु-विस्फोट से अनंत शक्ति पैदा होती है, ऐसे ही अहं के टूटने से भी होती है। उस शक्ति का नाम ही प्रेम है। वही अहिंसा है। अहिंसा की शक्ति अमाप है। वह व्यक्ति के माध्यम से स्वयं परमात्मा का प्रवाह है।

अहिंसा जहां है, वहीं अभय है। क्योंकि जहां प्रेम है, वहां भय कैसा? हिंसा के पीछे तो भय सदा ही उपस्थित है। हिंसा तो भय से कभी मुक्त हो ही नहीं सकती और इसलिए हिंसा कभी दुख से भी मुक्त नहीं हो सकते हैं। भय दुख और दुख नर्क है। इसलिए मैं यह नहीं कहता कि हिंसक नर्क में जाता है। मैं कहता हूं कि हिंसक नर्क में ही जीता है। इसके ठीक विपरीत अभय आनंद है। अभय मुक्ति है। और अभय का मार्ग है प्रेम। जिसे हम प्रेम करते हैं, उसके भय से हम मुक्त हो जाते हैं। जो समस्त को प्रेम करता है, वह सहज ही सर्व भय से मुक्त हो जाता है।

ज्ञान प्रेम में प्रकट होता है, अज्ञान अप्रेम में। जिस चित्त से घृणा बहती हो, निश्चय ही वह चित अज्ञान में है। क्योंकि घृणा और हिंसा से दूसरों का नहीं, मूलतः तो स्वयं का ही अहिंसा होता है। अपराध मात्र बहुत गहरे में स्वयं के प्रति ही होत हैं। दूसरों तक भी उनका विष पहुंचता है, लेकिन वह गौण ही है। जो हम दूसरों से करते है, उसे स्वयं के प्रति पहले ही कर चुके होते हैं। दूसरे के प्रति किए गए बड़े से बड़े अपराध स्वयं के प्रति किए गए अपराधों की अत्यंत धीमी प्रतिध्वनियां मात्र हैं।

अहिंसा प्रेम है, और प्रेम किसी से संबंध नहीं है, परम अंतस की एक दशा है। इसलिए वह बंधन नहीं, मुक्ति है। जहां बंधन है, वहां प्रेम नहीं, प्रेम का धोखा है, क्योंकि प्रेम बांधता नहीं मुक्त करता है।

प्रेम उस दिन परिपूर्ण होता है, जिस दिन मेरे बाहर कोई नहीं रह जाता है और मैं किसी के बाहर नहीं रह जाता हूं।

अहिंसा स्वयं के शरीर के ऊपर उठता है। जो शरीर में ही घिरा रह जाता है, वह हिंसा मुक्त नहीं हो सकता शरीर शोषण ही जानता है, प्रेम नहीं। प्रेम शरीर की नहीं, आत्मा की शक्ति और संभावना है। प्रेम आत्मा की सुवास है।

अहंकार

मैं अपने से पूछता थाः आत्मा और परमात्मा के बची में कौन सी दीवार है? बहुत खोजा लेकिन कोई भी उत्तर नहीं पाया। फिर थककर बैठ गया तब अचानक दिखा कि मैं ही तो दीवार हूं! अहंकार ही स्वयं और सत्य के बीच एकमात्र दूरी हैं।

अहंकार दबाया जा सकता है और विनम्रता ओढ़ी जा सकती है। वह कोई बहुत कठिन बात भी नहीं, लेकिन तब अहंकार और भी गहरा और सूक्ष्म होकर चित्त को पकड़ लेता है। यह पकड़ क्रमशः अचेतन होती जाती है और स्वयं व्यक्ति को भी उसका बोध नहीं रह जाता। किंतु स्मरण रहे कि ज्ञात शत्रुओं से अज्ञात शत्रु ज्यादा घतक होता है। यह दमित अहंकार विनम्रता से ही प्रकट होने लगता है।

अहंकार को विसर्जन करने का मार्ग दमन नहीं, संघर्ष नहीं, वरन उसकी समस्त अभिव्यक्तियों और उसके समस्त मार्गों का सूक्ष्मतम अवलोकन और बोध है। मन के जिस तल पर अहंकार का साक्षात हो जाता है, अहंकार उसी तल पर अपना आवास छोड़ देता है। जैसे प्रहरी सजग हो तो चोर घर में नहीं आते हैं, ऐसे ही हम यदि सतत जागरूक और सचेत हों तो क्रमशः अहंकार शून्य होने लगता है। और जहां अहंकार शून्य है, वहीं आत्मा अपनी पूर्णता में प्रकट होती है।

अहंकार को खोने वाले हानि में नहीं रहे हैं। क्या देखते नहीं है कि बीज मिटकर वृक्ष को पा लेता है और सरिता स्वयं को खोकर सागर हो जाती है? स्वयं को खोना ही स्वयं को पाना भी है।

अपरिग्रह

अपरिग्रह यानी आत्मनिष्ठा। परिग्रह का विश्वास वस्तुओं में है, अपरिग्रह का स्वयं में। अपरिग्रह का मूलभूत संबंध संग्रह से नहीं, संग्रह की वृत्ति से है। जो उसका संबंध संग्रह से ही मान लेता है, वह संग्रह के त्याग में ही अपरिग्रही की उपलब्धि देखता है, जब कि संग्रह का आग्रहपूर्ण त्याग भी वस्तुओं में ही विश्वास है। वह परिवर्तन बहुत ऊपरी है और व्यक्ति का अंतस्तल उससे अछूता ही रह जाता है।

संग्रह नहीं, संग्रह की विक्षिप्त वृत्ति विचारणीय है। स्वयं की आंतरिक रिक्तता और खालीपन को भरने के लिए ही व्यक्ति संग्रह की दौड़ में पड़ता है। रिक्तता से भय पैदा होता है और उसे किसी भी भांति धन से, यश से, पद से, पुण्य से या ज्ञान से भर लेने से सुरक्षा मालूम होने लगती है।

यह रिक्तता की दौड़ से भी भरी जा सकती है। लेकिन ऐसे रिक्तता भरती नहीं केवल भूली रहती है और मृत्यु का आघत सारी वंचना को नष्ट कर देता है। इसलिए ही मृत्यु की कल्पना भी भयभीत करती है। वह भय मृत्यु का नहीं है, क्योंकि भय उसके संबंध में ही हो सकता है जिसे कि हम जानते हों और जिससे परिचित हो। मृत्यु है अज्ञात और अनजान। और उससे हमारा कोई भी संबंध नहीं है। इससे भय मृत्यु का नहीं, भय है उस रिक्तता का जिसे हम तथाकथित जीवन से ढांक हुए हैं और भूले हुए हैं और जिसे मृत्यु निश्चित ही उघड़ देने को है।

संग्रह की शक्ति असत्य है, क्योंकि वह शक्ति स्वयं की नहीं है। शक्ति तो वही सत्य है जो कि स्वयं की है। संग्रह मात्र, पर है। उसे शक्ति और सुरक्षा मानकर जो चलता है, वह जीवन को व्यर्थ ही खो देता है।

आत्म ज्ञान न हो तो प्रत्येक के भीतर गहरे अभाव का बोध होता है। ऐसा बोध स्वाभाविक ही है और इस बोध का संताप ही स्वयं में क्रांति भी लाता है। लेकिन इस अभाव को क्षणिक और अस्थायी रूप से बाट जगत के प्रति आसक्ति आर मूर्च्छा से भी भरा जा सकता है। ऐसी मूर्च्छा ही परिग्रह है। इसलिए जो परिग्रह के बंधनों से अपरिग्रह की मुक्ति में प्रवेश चाहता है, उसे अपनी मूर्च्छा को तोड़ना होगा।

स्वयं के समस्त कार्यों, विचारों और भावों में जागरूक रहने से क्रमशः मूर्च्छा नष्ट होती है। साधारणतः हम सोए ही हुए हैं। अपने कार्यों और विचारों का निरीक्षण करेंगे तो यह सहज ही ज्ञात हो जाएगा। सम्यक निरीक्षण जागरूकता में ले जाता है और जागरूकता अपरिग्रह बन जाती है।

मैं कौन हूं? इसे न जानने से ही परिग्रह पैदा होता है। स्वयं की संपदा को जानते ही, बाट संपत्ति में परिणत हो जाती है। जिसके पास हीरे मोती नहीं हैं, वहीं कंकड़-पत्थरों को बीनने में समय खो सकता है।

परिग्रह के बहुत रूप हैं, लेकिन सूक्ष्मतम और केंद्रीय परिग्रह विचारों का परिग्रह है। उस तल पर जो अपरिग्रह को साध लेता है, वह समाधि को उपलब्ध हो जाता है। वस्त्र छोड़कर नग्न होना बहुत कठिन है, किंतु असली तपश्चर्या तो विचारों के वस्त्र छोड़कर नग्न होने में है- शरीर, आत्मा नग्न। और भीतर शून्य हो तो ही सत्य का साक्षात संभव है।

और भोजन त्यागकर निराहार रहना भी क्या बहुत कठिन है? किंतु असली प्रश्न तो विचार का आहार छोड़कर उपवास में होना है। विचार मात्र स्वयं से दूर ले जाते हैं। जहां विचार की प्रक्रिया है, वही सत्ता स्वयं से विमुख हैं। स्वयं को छोड़ कहीं और होना ही विचार का प्राण है। विचार में हम स्वयं से दूर और निर्विचार में स्वयं में होते हैं। और स्व में होना ही है परमात्मा के निकट वास अर्थात उपवास है। विचार का अपरिग्रह ही अत्यंतिक और आधारभूत अपरिग्रह है।

यह स्मरण रहे कि परिग्रह की वृत्ति परमात्मा, स्वर्ग या मोक्ष पाने के लिए सहज ही छोड़ी जा सकती है, लेकिन वह वास्तविक अपरिग्रह नहीं है। जहां कुछ भी पाने की कामना है, चाहे वह मोक्ष की ही क्यों न हो, वहां वासना है, परिग्रह है, आसक्ति है, यह लोभ का अंत नहीं वरन रूपांतरण है। और इस रूप में उसे पहचानना भी बहुत कठिन है। क्या संन्यासियों में छिपे संसारियों को पहचानना, कठिन नहीं है।

वासना जहां है, वहां संसार है। इसलिए, मोक्ष को तो चाहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि चाहने के कारण ही वह मोक्ष नहीं रह जाता है। जो चित्त मोक्ष को चाह रहा है, वह संसार को ही चाह रहा है। क्योंकि चाह में ही संसार का बीज है। मोक्ष की चाह से भरे चित्त में अभी स्वयं के बाहर जाने का द्वार खुला हुआ है। उसकी कामना के स्वप्नों का भी अंत नहीं हुआ। वह स्वप्नों को भंग कर अभी स्वयं में लौटने में समर्थ नहीं हुआ है। उसे स्वयं की सत्ता स्वयं में ही पूर्ण और पर्याप्त है, इस सत्य की अभी प्रतीति नहीं हुई है। अभी वह नए नामों से पुरानी दौड़ में ही दौड़ रहा है। उसके चित्त की शराब पुरानी ही है, सिर्फ बोतलें उसने नयी ले ली हैं।

वास्तविक अपरिग्रह तो तभी फलित होता है, जब स्वयं का स्वयं होना पर्याप्त और पूर्ण होता है। वस्तुतः ऐसी अनुभूति ही मोक्ष है। मोक्ष को चाहा नहीं जाना, लेकिन चित्त में जब कोई चाह नहीं होती है तो उसे पाया अवश्य ही जाता है। वह स्वयं के बाहर कोई उपलब्धि नहीं, वरन स्वयं के भीतर जो है उसका ही अनावरण और अनुभूति है।

अप्रमाद

मैं मृत्यु के तथ्य को अनुभव करने से अप्रमाद को उपलब्ध हुआ हुआ। जीवन में भविष्य में एक भी क्षण का भरोसा नहीं। जो क्षण हाथ में है, वही है। वही निश्चित है और उसके अतिरिक्त शेष सब अनिश्चित। वर्तमान के क्षण के सिवाय और किसी की कोई भी सत्ता नहीं है। न अतीत है, न भविष्य है। जब है और जो है, वह वर्तमान है।

जीवन वर्तमान में है- अभी और यही। इसलिए वर्तमान के जीवन को भविष्य में जीने के लिए आंखें रहते स्थगित नहीं किया जा सकता। और न ही उसे अतीत की मृत स्मृतियां में डूबकर ही गंवाया जा सकता है। जो क्षण हाथ में है उसके कार्य को आने वाले क्षण पर छोड़ने से बड़ी और क्या भूल हो सकती है? ऐसी भूल ही प्रमाद है। जीवन में स्थगन की प्रवृत्ति ही प्रमाद है। प्रत्येक क्षण को उसकी पूर्णता में जी लेना अप्रमाद है।

प्रमाद मृत्यु के क्षण तक स्थगित ही करता रहता है और अंततः पाया जाता है कि जीवन बिना जिए ही चुक गया है। मृत्यु यह देखने को भी तो नहीं ठहरती है कि आप अभी जी भी पाए थे या नहीं? किंतु अधिकतर लोगों की प्रमाद निद्रा मृत्यु के पहले नहीं टूटती है। वे तो मरकर ही जानते हैं कि जीवन जा चुका है। और जिए बिना जीवन निकल जाने से बड़ी पीड़ा नहीं है। मृत्यु भी उन्हें ही पीड़ा दे जाती है, जो कि जीवन को जिए ही नहीं और उसे सदा स्थगित ही करते रहे। जो जीवन को उसकी पूर्णता और समग्रता में जीते हैं, वे मृत्यु को भी आनंद से जीने में समर्थ होते हैं। मृत्यु बता देती है कि जीवन कैसा बीता। जो मृत्यु में भी आनंद में है, केवल वही जीवन में भी आनंद में रहा है।

क्या जीवन की खोज को कल पर छोड़ रहे हो? क्या सत्य की दिशा में कदम उठाने का विचार कल के लिए स्थगित कर रखा है। तो स्मरण रखना कि आज ही केवल हमारा है। एक कल मर गया है और एक अभी पैदा ही नहीं हुआ। जो हो सकता है, वह अभी ही हो सकता है। वस्तुतः कल के लिए टालना किसी काम को न करने की अपनी वृत्ति को स्वयं से ही छिपाने के उपाय से ज्यादा नहीं है। कल पर टाला हुआ काम सदा के लिए ही टल जाता है और दुर्भाग्य का तो अंत ही नहीं है जो कि जीवन को ही कल के लिए टाल देता है।

कल के स्वप्न शील आज के वास्तविक समय और शक्ति को व्यर्थ व्यय हो जाने देते हैं और कल के आदर्श के लिए जीने वाले आज की विकृति को उस आदर्श के सम्मोहन में सहन और भूलने में समर्थ हो जाते हैं। जिन्हें जीवन को बदलना है, वे कल का नहीं, आज का विचार करते हैं। उनके लिए वास्तविकता आदर्श से कहीं ज्यादा मूल्यवान होती है और वे जानते हैं कि आदर्श स्वप्नों में से नहीं, वरन आज की वास्तविकताओं के परिवर्तन से ही जन्मते और जीवंत बनते हैं।

अज्ञान

पाप क्या है? अज्ञान ही पाप है। शेष सारे पाप तो उसकी ही छायाएं हैं। इसलिए मैं कहूंगा कि छायाओं से नहीं, वरन उससे ही लड़ो जो कि उनका मूल है और आधार है। जो छायाओं से लड़ता है, वह निश्चय ही भटक जाता है। छायाओं से लड़कर जीत तो असंभव ही है। बस हार ही हो सकती है।

कन्फ्युसियस ने कभी कहा थाः अज्ञान ही मन की रात्रि है। इस रात्रि में फिर न मालूम कितने पापों की प्रति छायाएं खड़ी हो जाती हैं। रात्रि के साथ ही उनकी सत्ता है और रात्रि के साथ ही उनकी मृत्यु है। जो जानता है, वह उनसे वही वरन उनकी जन्मदात्री रात्रि से ही लड़ता है। और लड़ना भी रात्रि से लड़ने का कोई उपाय नहीं। उस प्रकाश की संभावना भी प्रत्येक के भीतर ही है। जो मन अज्ञान के कारण रात्रि है, वही मन प्रज्ञा के प्रकाश से दिवस भी बन जाता है।

स्व विवेक को प्र वलित कर निश्चय ही समस्त अंधकार नष्ट किया जा सकता है। किंतु जो आलोक भीतर है उसे हम बाहर खोजते हैं और इसलिए उपलब्ध नहीं कर पाते। आलोक पाने के लिए भीतर मुड़ना है, लेकिन वहां भी बाहर से आए प्रभावों ने सभी कुछ ढांक रखा है। ये बाट प्रभाव ही हमारे विचार बन गए हैं और विचारों की राख में विवेक की अग्नि दबी है।

विचार और विचारों की पर्तों से उसे ढांक रखा है जो कि हमारी विचार की शक्ति है। किंतु विचारों की राख को अलग कर जो स्वयं में झांकता है, वह पता है कि वहां तो एक ऐसी अग्नि जल रही है, जो कि अनादि और अनंत है। इस अग्नि को अनावृत कर लेना ही अलोक के मूल स्रोत को पा लेना है।

अज्ञान को छिपाना हो तो दूसरों से ज्ञान को सीख लो। लेकिन ज्ञान को पाने का वह मार्ग नहीं। वस्तुतः तो दूसरों के ज्ञान से ज्ञानी बनने से बड़ा कोई अज्ञान नहीं है।

अज्ञान की आत्मा है आत्म-अज्ञान। जो स्वयं को ही नहीं जानता, उसके कुछ भी जानने का क्या मूल्य? और स्वयं को जानना न किसी शास्त्र से हो सकता है, न किसी शास्ता से। उसके लिए तो स्वयं की चित्त की निद्रा को तोड़ना होगा। उस दिशा में कोई भी सहारा नहीं और कोई भी शरण नहीं है। इससे हम जिनमें साहस है और स्वयं पर विश्वास है, केवल वे ही सत्य की ओर जा सकते हैं।

आत्म-विश्वास

आत्म-विश्वास का अभाव ही समस्त अंधविश्वासों का जनम है। जो स्वयं में विश्वास नहीं करता, वह किसी और में विश्वास करके अपने अभाव की पूर्ति कर लेता है। यह पूर्ति बहुत आत्मघती है क्योंकि इस भांति व्यक्ति स्वयं के विकास और पूर्णता की दिशा से वंचित हो जाता है। जिसे स्वयं पर विश्वास नहीं, उसे सिवाय अनुकरण और किसी पर निर्भर होने के और उपाय ही क्या है?

पर निर्भरता हीनता लाती है और किसी की शरण पकड़ने से दीनता पैदा होती है। चित्त धीरे-धीरे एक भांति की दासता में बंध जाता है और दास चित्त कभी भी प्रौढ़ नहीं हो सकता। प्रौढ़ता आती है- स्वयं के पैरों पर खड़े होने से स्वयं की आंखों से देखने से और स्वयं के अनुभवों की कठोर चट्टान पर जीवन निर्मित करने से। स्वयं के अतिरिक्त स्वयं के सृजन का और कोई द्वार नहीं है।

मैं किसी और मैं श्रद्धा करने को नहीं कहता हूं। दूसरों में श्रद्धा करने के कारण ही सब भांति के पाखंड पैदा हुए है। वस्तुतः किसी को किसी का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक किसी दूसरे जैसा नहीं, वरन स्वयं ही होने को पैदा हुआ है।

स्वतंत्रता

मैं ऐसे गुलामों को जानता हूं, जो मानते हैं कि वे स्वतंत्र है। और उनकी संख्या थोड़ी नहीं है, वरन सारी पृथ्वी ही उनसे भर गई है। और चूंकि अधिक लोग उनके ही जैसे हैं, इसलिए उन्हें स्वयं की धारणा को ठीक मान लेने की भी सुविधा है, लेकिन मेरा हृदय उनके लिए आंसू बहाता है, क्योंकि गुलाम होते हुए भी उन्होंने अपने आपको स्वतंत्र मान रखा है। और इस भांति स्वयं ही अपने स्वतंत्र होने की प्राथमिक संभावना को ही समाप्त कर दिया है। धर्मों के नाम से संप्रदायों में कैद व्यक्ति ऐसी ही स्थिति में है।

इस भांति की परतंत्रता में निश्चय ही सुविधा है और सुरक्षा है। सुविधा है, स्वयं विचार करने के श्रम से बचने की और सुरक्षा है, सबके साथ होने की। और इसलिए ही जो कारागृह है, उन्हें नष्ट करने की तो बात ही दूर, कैदी गण ही उसकी रक्षा के लिए सदा प्राण देने को तत्पर रहते हैं! मनुष्य भी कैसा अदभुत है, वह चाहे तो अपने कारागृहों को ही मोक्ष भी मान सकता है! लेकिन इससे बदतर गुलामी कोई दूसरी नहीं हो सकती है।

स्वतंत्रता पाने के लिए सबसे पहले तो यही आवश्यक है कि हम जाने कि हमारा चित्त किसी गहरी दासता में है, क्योंकि जो यही नहीं जानता, वह स्वतंत्रता के लिए अभीप्सा भी अनुभव नहीं कर सकता। कैद की पीड़ा ही मुक्ति की आकांक्षा में बदल जाती है। फिर वास्तविक बंधन बाहर नहीं, भीतर है, इसलिए उन्हें पहचानना भी आसान नहीं।

वे इतने परिचित भी है कि हमने उन्हें बंधन मानना ही छोड़ दिया है। उनका दंश अनुभव न हो, इसलिए हमने उन्हें खूब सजीली बंदनवारों से भी गूंथ दिया है। परंपराएं, अंधविश्वास, रूढ़ियां संप्रदाय, शास्त्र और शब्द हमारे मन को बुरी तरह बांधे हुए हैं। उनके बाहर हमने सोचना और देखना सभी बंद कर दिया है। ऐसी अवस्था में ज्ञान का उदभव कैसे होगा? समाज से दिए हुए पक्षपात और संस्कारों की दासता को जो नहीं तोड़ कसता है, वह सत्य को और स्वयं को जानने का अधिकारी ही नहीं है। सत्य पाने को अधिकार चित्त की परिपूर्ण स्वतंत्रता में ही प्राप्त होता है।

क्या जीवन में रास्ता नहीं मिलता है? तो उसे बनाओ। वस्तुतः बना बनाया कोई रास्ता ही नहीं है। प्रत्येक को अपने श्रम से अपना मार्ग बनाना पड़ता है और अपने ही विवेक के प्रकाश में उस पर यात्रा भी करनी होती है। जीवन भी दूसरों से नहीं मिलता और न ही जीवन का मार्ग मिलता है।

जड़ता ही बंधी हुई लीकों पर गति करती है, जीवन नहीं है। जीवन तो प्रतिपल अज्ञात में प्रवेश है, इसलिए उसके लिए कोई पूर्व निर्धारित मार्ग नहीं है। और न ही होना भी चाहिए। जीवन के भीतर से ही उसका मार्ग भी निकलता है। और मेरी दृष्टि में मनुष्यात्मा का इससे बड़ा और कोई सन्मान नहीं हो सकता। क्योंकि मार्ग पर चलने की स्वतंत्रता कोई वास्तविक स्वतंत्रता नहीं है। वास्तविक स्वतंत्रता तो स्वयं के लिए स्वयं ही मार्ग निर्मित करने में निहित होती है।

आप चाहते है कि एक शब्द में, मैं अपने समस्त दर्शन को कहूं?

तो मैं कहूंगा- स्वतंत्रता।

परतंत्रता जड़ता है और स्वतंत्रता आत्मा। जीवन का विकास जड़ता से आत्मा की ओर है अर्थात परतंत्रता की ओर है। मैं मनुष्य के चित्त को सब भांति स्वतंत्र देखना चाहता हूं। उस स्वतंत्रता में ही उसके सत्य तक और स्वयं तक पहुंचने की संभावना है।

स्वतंत्रता से बड़ा न कोई आनंद है, न कोई उपलब्धि। क्योंकि उसमें ही उस बीज के वृक्ष तक पहुंचने का द्वार है जो कि मनुष्य में छुपा हुआ है। मनुष्य तो प्रारंभ ही है। वह कोई अंत नहीं। अंत तो हैं परमात्मा। लेकिन, आंतरिक स्वतंत्रता के अभाव में मनुष्य अपने अंत तक कभी नहीं पहुंच सकता।

इससे बड़ी पीड़ा ही क्या होगी कि बीज, बीज ही रह जावे और जो हो सकता था वह हो सके। स्वयं की पूर्ण संभावना को पाए बिना आनंद और कृतार्थता कैसे उपलब्ध हो सकती है? धन्यता तो केवल उन्हीं का भाग्य बनती है, जो कि स्वयं की पूर्णता को प्राप्त हो जाते है।

धर्म

मैं आपको देखता हूं तो दुख अनुभव करता हूं, क्योंकि किसी भी भांति बिना सोचे विचारे, मूर्छित रूप से जिए जाना जीवन नहीं, वरन धीमी आत्महत्या है। क्या आपने कभी सोचा कि आप अपने जीवन के साथ क्या कर रहे हैं? क्या आप सचेतन रूप से जी रहे हैं? क्योंकि यदि हम अचेतन रूप से बहे जा रहे हैं और जीवन के अचेतन सृजन में नहीं लगे है, तो सिवाय मृत्यु की प्रतीक्षा के हम और क्या कर रहे हैं? जीवन तो उसी का है जो उसका सृजन करता है।

आत्मसृजन जहां नहीं, वहां आत्मघत है। मित्र, जन्म को ही जीवन मत मान लेना। यह इसलिए कहता हूं कि अधिक लोग ऐसा ही मान लेते हैं। जन्म तो प्रच्छन्न मृत्यु है। वह तो आरंभ है और मृत्यु उसका ही चरम विकास और अंत। वह जीवन नहीं, जीवन को पाने का एक अवसर भर है। लेकिन जो उस पर ही रुक जाता है, वह जीवन पर नहीं पहुंच पाता। जन्म तो जीवन के अनगढ़ पत्थर को हमारे हाथों में सौंप देता है। उसे मूर्ति बनाना हमारे हाथों में है। यहां कलाकार और कलाकृति और कला और कला के उपकरण सभी हम ही हैं। जीवन के इस अनगढ़ पत्थर को मूर्ति बनाने की अभीप्सा धर्म है।

धर्म जीवन से भिन्न नहीं है जो धर्म जीवन से भिन्न है, वह मृत है। मैं कैसे जीता हूं, वही मेरा धर्म है। यह मत पूछिए कि मेरा कौन सा धर्म है क्योंकि धर्म बस धर्म है। और उसमें किसी विशेषण को लगाने का क्या सवाल? जहां विशेषण है और विशेषण का आग्रह है, वही धर्म, धर्म नहीं है।

धर्म जीवन को परमात्मा में जीने की विधियां है। संसार में ऐसे जीया जा सकता है, जैसे कि कमल सरोवर की कीचड़ में जीते हैं।

क्या उचित नहीं होगा कि आपका धर्म कि आपका धर्म आपके धर्मग्रंथों और धर्म स्थानों में नहीं, वरन आप में ही दिखाई पड़े? वह भी मात्र अपनी वाणी में ही प्रकट हो, तो असत्य है। सत्य का प्रमाण शब्द नहीं, केवल जीवन ही होता है। कायलर ने कहा हैः दीपक बोलता नहीं, जलता है। धर्म भी जब स्वयं के जीवन में जलता है, तभी बोलता है।

क्या आप असंभव से डरते हैं? असंभव से मत डरो। असंभव को चुनने से ही भीतर प्रसुप्त शक्तियां जाग्रत और सक्रिय होती है। जो सदा संभव की सीमा में ही चलता है, वह अपनी ही पूर्ण संभावनाओं के साक्षात से वंचित रह जाता है।

असंभव की अभीप्सा में ही स्वयं की शक्तियों का जागरण है। और सर्वाधिक असंभव क्या है? परमात्मा में जीना सर्वाधिक असंभव है। इसलिए मैं धर्म को सबसे बड़ा साहस कहता हूं। लेकिन जो साहस को करता है, वह सरलतम और सहजतम जीवन को पा लेता हूं, क्योंकि स्वयं की समग्र संभावनाओं का परमात्मा की दिशा में सक्रिय हो जाना ही सरलतम जीवन की उपलब्धि है।

स्वरूप में जीना सरलतम है, लेकिन उसकी अभीप्सा करना कठितम, क्योंकि जो निकटतम है वह निकट होने के कारण ही विस्मृत हो जाता है। अमूर्च्छा को ही मैंने धर्म जाना है। क्योंकि अमूर्च्छा ही जीवन के लिए नाव है। मूर्च्छित चित्त तो ऐसी नौका में बैठा हुआ है जो कि है ही नहीं! उस पर यात्रा पार होने के लिए नहीं डूबने के लिए ही हो सकती है।